तृतीय अध्याय – आल्वार संत : पर्यालोचन

3.1 आल्वार भक्ति का स्वरूप एवं समय

3.2 आल्वार संतों का साहित्यिक परिचय

पोयगै आल्वार, भूत्ततू आल्वार, पेयाल्वार, तिरुमलिशै आल्वर, नम्माल्वार, मधुर कवि आल्वार, कुलशेखर आल्वार, पेरियाल्वार, आण्डाल, तोण्डरअडिप्पोडि आल्वार, तिरुप्पाण आल्वार, तिरुमंगै आल्वार

3.3 आल्वार संतों का नालायिर दिव्य प्रबंधम्

3.4 श्रीमद्भागवत और नालायिर दिव्य प्रबंधम्

3.5 आल्वार संतों के काव्य का दार्शनिक आधार– ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष

3.6 दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

3.6.1 दक्षिण भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ

3.6.2 दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

3.6.3 दक्षिण भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ

3.6.4 दक्षिण भारत की धार्मिक परिस्थितियाँ

3.6.5 दक्षिण भारत की कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

तृतीय अध्याय

आल्वार संत : पर्यालोचन

3.1 आल्वार भक्ति का स्वरूप

द्रविड़ प्रदेश में उत्पन्न वैष्णव भक्त 'आल्वार' कहलाते हैं। ''आल्वार शब्द का अर्थ भगवत्प्रेमसागर में डूबनेवाले अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान के मूल–तत्व तक पहुँचकर उनके ध्यान में मग्न रहने वाले हैं।''[1] वैष्णव भक्त आल्वार संख्या में बारह हैं। मध्यकालीन ब्रजभाषा काव्य में कृष्णभक्ति की धारा को प्रभावित करने का श्रेय दक्षिण के आल्वार संतों को है। अधिकांश आल्वारों की भक्ति शांत, दास्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भक्ति है। आल्वारों के यहाँ सर्वप्रथम ईश्वर को मनुष्य के रूप में ढालने की कोशिश की गई है। आल्वारों ने ईश्वर के मंगल की कामना की है। इनके बालकृष्ण जग का कल्याण करते हैं। आल्वारों ने श्रीमन्नारायण के स्वरूप, गुण और लीला का अनुभव नाना प्रकार से किया है। कभी परब्रह्म और बैकुंठस्थ वासुदेव का अनुभव करते हैं, तो कभी क्षीरसागरशयी व्यूहरूप का अनुभव, कभी मत्स्य, कूर्म, वामन, नरसिंह, राम, कृष्ण आदि विभवावतारों का अनुभव करते हैं, तो कभी श्रीरंग, वेंकटाचल, वृंदावन, बदरीनाथ आदि क्षेत्रों में विराजमान क्रमशः भगवान श्रीरंगनाथ, श्रीवेंकटेश्वर, श्रीमुरलीधर, नारायण आदि अर्चावतारों के रूप में अनुभव करते हैं। पोयगे आल्वार, भूत्ततू आल्वार, पेयाल्वार ने विष्णु के वामनावतार की उपासना की तथा तिरूपति के वेंकटाद्रिनाथ के साथ–साथ भगवान शिव का भी उल्लेख किया है। उनके पदों में कृष्णभक्ति का लीलामय स्वरूप नहीं पाया जाता। तिरुमलिशै आल्वार 7वीं शताब्दी के संत हैं। जिन्होंने कृष्ण के लीलामय स्वरूप का गुणगान किया है। इसी प्रकार नम्मालवार तथा मधुरकवि आल्वार ने कृष्ण की दास्य भाव की भक्ति की है। कुलशेखर आल्वार ने वात्सल्य एवं सांख्य भाव से विष्णु के राम अवतार का वर्णन किया है तथा उनके लीलामय पदों का गुणगान किया है। पेरियाल्वार ने वात्सल्य भाव से कृष्ण की उपासना की। बालकृष्ण की विविध छवियों, लीलाओं

का वर्णन करने के साथ–साथ 'पल्लाण्डु–पल्लाण्डु' (जुग–जुग जीयो) कहकर कृष्ण की रक्षा की कामना की है। पेरियाल्वार की दत्तक पुत्री आण्डाल बारह आल्वार संतों में अकेली महिला संत है। आण्डाल ने कृष्ण की माधुर्य भाव से उपासना की है। तत्पश्चात् तोण्डरअडिपोडि आल्वार भगवान श्रीरंगनाथ की महत्ता का गुणगान करते हैं। ये आल्वार संत दास्य भाव से श्रीरंगनाथ की भक्ति करते हैं। तिरूमंगै की भक्ति दास्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति है। एक ओर वह प्रभु के दास बने हुए हैं, वहीं दूसरी ओर श्रीरंगनाथ के विरह में तड़पते हुए नजर आते हैं। स्वंय को भगवान श्रीरंगनाथ की नायिका मानते हुए उनका विरह आल्वार के लिए असहनीय है। संत परकाल का एक विलक्षण अनुभव है। युद्ध में हारे गए रावण के सैनिक बनकर श्रीरामचंद्र से करुणा की प्रार्थना करते हैं। आल्वार संतों के अनुभव भी विचित्र हैं– कभी भक्त के रूप में, कभी पिता दशरथ के रूप में, कभी कौशल्या, यशोदा, देवकी आदि माताओं के रूप में , कभी नायिका के रूप में– वह भी संयोग और विरह की दशा में।

आल्वारों का समय

विद्वानों की मान्यता के अनुसार भक्ति का जो स्वरूप पिछले लगभग एक–डेढ़ हजार साल से प्रचलन में है। उसका मूल वैदिक स्रोतों में नहीं पाया जाता। ''आर्य जब भारत में आए तब यहाँ एक समृद्ध सभ्यता और संस्कृति फल फूल रही थी और आर्यों ने धार्मिक या आध्यात्मिक शून्य में प्रवेश नहीं किया था। आर्येत्तर संस्कृति या संस्कृतियों में से मुख्य धारा थी; एक साधना तपस्या को केंद्रीभूत कर सामान्य जीवन से उच्चत्तर मूल्यों का अन्वेषण करने वाली 'यति' या 'श्रमण' धारा थी और दूसरी थी किसी लोकोत्तर शक्ति या देवता के साथ रागात्मक संबंध सूत्र में बंधकर उसकी उपासना करने वाली भक्ति धारा! कालांतर से जैन और बौद्ध धर्म ने श्रमण धारा का उत्तराधिकार ग्रहण किया और शैव, शाक्त, वैष्णव आदि ने भक्ति धारा का।''[2] आल्वार संतों का समय छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक माना जाता है। पाँचवी और छठी शताब्दी में आकर जैन एवं बौद्ध धर्म के नैतिक आचरण का पतन होने लगा। जिसके परिणामस्वरूप तमिल प्रदेश में एक ऐसा मार्ग दिखाया जिसमें आत्मशांति और यज्ञादि

धार्मिक कर्मकांडो से मुक्ति प्राप्त हो। युग की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए वैष्णव आल्वार तथा शैव नायनमार संतों का विशेष योगदान रहा। डॉ. ना. सुंदरम् आल्वार संतों के पदों की तमिल शैली को ध्यान में रखकर निश्चित रूप से कहते हैं, ''आल्वारों का समय तमिल साहित्य के 'तृतीय संघोत्तर' काल के उपरांत ही है क्योंकि ये समस्त संत कवि अपनी रचना की भाषा, पद के अंत में 'संगत् तमिल' घोषित करते हैं।''[3] दक्षिण वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य नाथमुनि ने उक्त बारह आल्वारों के गीतों का संग्रह तथा संपादन किया जो ''नालायिर दिव्य प्रबंधम्''[4] के नाम से प्रसिद्ध है।

3.2 आल्वार संतों का साहित्यिक परिचय

भक्ति की धारा को प्रवाहित करने का श्रेय दक्षिण के आल्वार संतों को है। जिन्होंने शंकर के मायावाद का खंड़न किया। आल्वार संतों ने गाँव–गाँव घूमकर वैष्णव भक्ति का प्रसार किया तथा भक्ति का मार्ग सभी वर्ण के लोगों के लिए सुगम बना दिया। साख्य, माधुर्य, वात्सल्य एवं दास्य आदि भक्ति भाव के दर्शन आल्वार संतो के पदों में होते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

पोयगै आल्वार

पोयगै आल्वार प्रथम आल्वार संत हैं। इन्होंने त्रिविक्रम वामन, वाराह, नृसिंह आदि अवतारों का गुणगान किया है। ''तिरूपति के वेंकटाद्रिनाथ पर इनका विशेष मोह है।''[5] विष्णु के वाराह अवतार की अर्चना का एक कारण सुवीरा जायसवाल अपनी पुस्तक 'वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास' में बताती हैं, ''ई० सन् की छठी शताब्दी के प्रारंभ होने तक वैष्णव धर्म दक्षिण में काफी प्रगति कर चुका था। पहले चालुक्य राजा भी विष्णु के उपासक थे। उनके प्रलेखों का प्रारंभ विष्णु के वाराहावतार की स्तुति से होता है। उनकी मोहरों एवं सिक्कों पर भी वाराह का चित्र अंकित है।''[6] प्रथम तीन आल्वारों का समय छठी शताब्दी के आसपास का माना जाता है। छठी शताब्दी में दक्षिण क्षेत्रों में चोलों और पल्लवों के बीच शत्रुता रही।

प्रथम तीन आल्वार के पदों में पल्लव राजा, नृसिंह पल्लव द्वारा निर्मित 'ममल्लपुर' का उल्लेख मिलता है। वास्तुकला में भी नृसिंह का वर्णन मिलता है। छठी शताब्दी में उत्पन्न प्रथम तीन आल्वारों में पोयगै आल्वार का जन्म कांचीपुरम के निकट ब्राह्मण परिवार में हुआ। पोयगै आल्वार का अनुदित संस्कृत नाम सरोयोगिन है। इन्होंने तिरूवंतादि की रचना की जिसमें भक्ति के 100 पद हैं। प्रपत्ति की भावना को प्रस्तुत करता उनका ये पद उनकी एकनिष्ठता को प्रकट करता है ''भगवान नारायण बैकुंठपति है। वे पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु एवं आकाश–इन पाँच भूतों के रूप में है। पुण्डरीकाक्ष भगवान नारायण ही तो थे जिन्होंने मगर की पकड़ में फँसे बड़े आकार के गजेन्द्र को उससे बचाया–इस प्रकार गजेन्द्र ऐरावत को मोक्ष प्रदान किया। आल्वार अपने मन से कहते हैं कि रे मन! तुम इस बात को समझो कि भगवान नारायण आश्रितों के नितराम् रक्षक है''[7] पोयगै आल्वार ने काव्य में हरि और हर की एकता का प्रतिपादन किया है। नाम चाहे अलग हो शिव अथवा नारायण, उनके वाहन चाहे अलग हो ऋषभ अथवा गरूड़, दोनों एक ही है। इनके बाद के आल्वार संतों में यह भावना लुप्त होती गई क्योंकि उन्होंने केवल नारायण को ही स्तुति का आधार बनाया।

भूत्ततू आल्वार

भूत्ततू आल्वार जिनका अनुदित संस्कृत नाम भूतयोगिन हैं। द्वितीय आल्वार संत हैं। इनका जन्म महाबलिपुरम् में ब्राह्मण परिवार में हुआ। इन्हें विष्णु की गदा का अवतार माना जाता है। इनकी रचना इरंडाम तिरूवंतादि है। जिसमें भक्ति के 100 पद हैं। भूत्ततू आल्वार की भक्ति एकांत अन्नयभक्ति है, इसमें साधक का प्रेम और उसकी भावनाएँ एकोन्मुखी हो जाती हैं। ''हे शुद्ध मन! तुम यह समझ लो कि पुरुषोत्तम भगवान नारायण के श्रीचरणों की शरण में पहुँचना सर्वोत्तम है। सुंदर कमलपुष्पों से उन श्रीचरणों की पूजा करना श्रेष्ठ है। सिर नवाते हुए विनम्रतापूर्वक पुष्पार्चन तथा स्तुति कर, भगवान नारायण के सहस्र नामों का सर्वदा स्तवन करने की तपस्या सर्वथा उपयुक्त है।''[8]

पेयाल्वार

तृतीय आल्वार संत पेयाल्वार का संस्कृत नाम महायोगिन् है। इनका जन्म मद्रास (वर्तमान चैन्नई) माना जाता है। ये ब्राह्मण जाति में जन्में थे। इन्हें विष्णु के खड़ग का अवतार माना जाता है। इनकी रचना 'मून्राम् तिरूवंतादि' है। जिसमें भक्ति के 100 पद हैं। आत्मतत्व में अटूट आस्था, श्रद्धा, विश्वास भक्ति से युक्त विवकेशील ज्ञानी भक्त के रूप में पेयाल्वार अपने ज्योर्तिमय प्रभु को पाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं तथा उन्हीं नारायण को ही सर्वसाम्थर्य युक्त मानते हैं। ''सर्वशक्तिमान भगवान नारायण के लिए सब कुछ संभव है। गोर्वधन पर्वत को उठाकर मूसलाधार वर्षा से गोसमुदाय की रक्षा की थी उन्होंने ही। बाण चलाकर लंकापुरी को जलाया था उन्होंने ही। वे ही हैं जो हमें शाश्वत् परमपद उपलब्ध करा सकते है।''[9]

तिरुमलिशै

तिरुमलिशै आल्वार को भक्तिसार के नाम से जाना जाता है। इनका जन्म छठी शताब्दी के अंत में कांचीपुरम् में चतुर्थ वर्ण में हुआ। प्रारंभ में वे शैव थे ''पेयाल्वार से पराजित होने के पश्चात् वे वैष्णव हो गए और अपना नाम तिरुमलिशै रख लिया।''[10] इन्होंने बौद्ध, जैन एवं शैव धर्म का पुरजोर विरोध किया। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार, ''वैष्णव योगी होने से पूर्व उन्होंने जैन और बौद्ध धर्म दोनों को अपनाकर देखा था। इससे उनके समय में धर्म की स्थिति और उनकी कविताओं के स्वर का रहस्य स्पष्ट होता है।''[11] इन्होंने दो ग्रंथों की रचना की पहला नान्मुकन् तिरुवंतादि जिसमें भक्ति के 93 पद है तथा 'तिरुच्चवुत्तम्' जिसमें भक्ति के 120 पद है। 'यह प्रसिद्ध है कि नम्मालवार द्वारा विरचित पदों को सुनकर और उन पदों के सामने अपने पदों को निकृष्ट मानकर सभी पदों को फाड़कर कावेरी में फेंक दिया।'[12] नान्मुखन् तिरुवंतादि में विष्णु के नारायण रूप का गायन है। संसार की नश्वरता प्रभु भक्ति का आनंद तथा शरणागति का भावपूर्ण चित्रण है। तिरुच्चंदवृत्तम् में दर्शन के रहस्यों का सरल

विवेचन है। लौकिक प्रेम के आधार पर अलौकिक कल्पना है। (नायक और नायिका) भगवान और भक्त के बीच मिलन उत्कंठा का चित्रण है। ऐसा आल्वार साहित्य में पहली बार हुआ।

नम्मालवार

नम्मालवार को आल्वारों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। इनका अन्य नाम 'शठकोप' है। नम्मालवार (अर्थात् हमारे आल्वार) नाम प्रेम से वैष्णवों द्वारा दिया गया है। इनका जन्म 7वीं शती में ''पाण्ड्य देश में ताम्रपर्णी नदी के किनारे तिरुक्कुरुकूट नगर में चतुर्थ वर्ण के कुल में हुआ।''[13] इन्होंने पाँच प्रबंधों की रचना की।

तिरुवृत्तम्	100 पद
तिरुवाशिरियम्	74 पद
पेरिय तिरुवंतादि	87 पद
तिरुवाय मोलि	1102 पद
कणिनुल चिरुतांबु	13 पद

मधुरकवि आल्वार

मधुरकवि आल्वार नम्मालवार के शिष्य थे। इनका जन्म ''पाण्ड्य देश के कोलूर में हुआ। वे संगीत शास्त्र में निपुण थे इसलिए वे मधुर कवि के नाम से प्रसिद्ध हुए।''[14] मधुर कवि की ग्यारह पदों वाली एकमात्र रचना 'कण्णिनुण चिरुत्तांबु' प्रबंधम् में संगृहीत है। दस पदों में इन्होंने गुरू नम्मालवार की श्रेष्ठता का वर्णन किया है। 'भगवद् विषय से परे रहने के बावजूद, मैं श्रीदेवी समेत श्याम वर्ण के भगवान नारायण के दिव्य स्वरूप के दर्शन करूँगा। किंतु यह सौभाग्य महिमामय तथा उदारचेता कुरूकूर् स्थल के अधिपति गुरू नम्मालवार का

अनन्य दास होने के गौरव से ही मुझे प्राप्त हुआ है।'[15] गुरू की श्रेष्ठता एवं अनन्यता का प्रतिपादन मधुर कवि ने किया है और गुरू की कृपा से ही उन्हें श्रीदेवी सहित नारायण के दर्शन हुए।

कुलशेखर आल्वार

कुलशेखर आल्वार चेर या केरल प्रदेश के शासक थे। ये बड़े ज्ञानी और रामभक्त थे। ये आठवीं शताब्दी में हुए। क्षत्रिय वंश के राजा कुलशेखर परम रामभक्त थे। इनके दो प्रधान ग्रंथ है एक 'मुकुंदमाला' संस्कृत में है, दूसरा 'परूमाल तिरुमोलि' तमिल में है। इनमें भक्त की दीनता, वैराग्य भाव, श्रीरंगम् के भगवान के समक्ष उपस्थित होकर गान नृत्य करने की कामना आदि का वर्णन है। कुलशेखर आाल्वार ने सख्य, दास्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति की है। कृष्ण के प्रति एक गोप कन्या की उलाहना भरी उक्ति उनके एक पद में इस प्रकार प्रकट होती है ''तुम छली हो; पुष्पों से अलंकृत कृष्ण वर्ण की केश राशि से युक्त एक सुंदर कन्या को तुमने तिरछी नज़र से देखा और वहीं बैठी रहने के लिए संकेत किया। फिर किसी और कन्या की ओर दृष्टिपात किया; फिर उसे भी त्यागकर किसी दूसरी कन्या से कहा कि मैं तुम्हारा गुलाम हूँ; फिर किसी और कन्या को अमुक स्थान पर आकर मिलने के लिए झूठमूठ कहा; लेकिन अंत में दूसरी सुंदर कन्या के साथ तुम रहे; पर उसके साथ भी तुम्हारा स्नेह व्यवहार मिथ्यामय ही था।''[16] कृष्ण के प्रति उलाहना भरे पदों को बड़ी सुंदर पद रचना इनकी विशेषता है साथ ही श्रीराम की बाललीलाओं का चित्रण इनकी रचनाओं में मिलता है। कुलशेखर आल्वार के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित है। कहा जाता है कि एक बार जब यह राम कथा सुन रहे थे। तब कथा में प्रसंग आता है कि सीता की रक्षा निमित्त राम लक्ष्मण को नियुक्त करके अकेले ही खरदूषण की विपुल सेना से युद्ध करने चले जाते हैं, इतना सुनते ही कुलशेखर अपनी सेना को राम की सहायता के लिए प्रस्थान करने की आज्ञा देते हैं। कथावाचक के यह कहने पर कि राम अकेले ही समस्त सेना का संहार कर सीता सहित विजय होकर लौटे। तब कुलशेखर ने अपनी सेना को वापस बुलाया।

पेरियाल्वार

पेरियाल्वार जिसका अर्थ है उत्तम आल्वार। निज रक्षा का ध्यान छोड़ भगवान श्रीरंगनाथ की रक्षा की कामना एवं मंगल कामना करने वाले पेरियाल्वार का अन्य नाम विष्णुचित्त है। इनका जन्म 8वीं शताब्दी में दक्षिण के श्रीविल्लीपुत्तर नामक नगर में ब्राह्मण परिवार में हुआ। ये विष्णु मंदिर में पुष्पसेवा करते थे। इनकी दो रचनाएँ तिरुप्पलांडु और पेरियाल्वार तिरुमोलि प्रबंधम् में संगृहित हैं। जिनमें भक्ति के 473 पद हैं। इन्होंने बालकृष्ण की लीलाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया है। 'श्री बिल्लीपुत्तर के ब्राह्मण पेरियाल्वार ने पाण्ड्य राजा श्री वल्लभ के दरबार में एक धार्मिक वाद–विवाद में विजय हासिल की।'[17] जिस प्रकार सूरदास ने सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण की बाललीलाओं का अतिसूक्ष्म वर्णन किया है, उसी माधुर्य एवं वात्सल्य भाव से आठवीं शताब्दी में सूर से पहले वह बाल कृष्ण की लीलाओं का वर्णन उसी मधुरता से कर चुके थे।

आण्डाल

आण्डाल बारह आल्वार संतों में अकेली महिला संत थी। इनका अन्य नाम गोदा है। आण्डाल, पेरियाल्वार की दत्तक पुत्री थी, जो उन्हें पुष्पवाटिका से प्राप्त हुई थी। आण्डाल का अर्थ है जिसने भगवान को प्राप्त किया। पेरियाल्वार को बिल्लीपुत्तूर में अपने उद्यान में तुलसी के पौधे के निकट एक कन्या प्राप्त हुई। उन्हें कोदै 'पुष्प समान कोमल' नाम मिला। यही 'कोदै' शब्द बाद में गोदा बना। इनकी दो कृतियाँ हैं। पहली रचना 'तिरुप्पावै' है, जिसमें भक्ति के 30 पद हैं। तिरुप्पावै कांता भक्ति का भव्य रूप प्रस्तुत करता है। ''गोदा की भावना इतनी गहरी हो गयी थी कि उसका चाल–चलन, बोली इत्यादि और केश की गंध भी गोपियों के जैसे हो गई। इस प्रकार (स्वंय एक गोपी बनकर) गोपी भावना की प्रचुरता में, तिरुप्पावै की सूक्तियाँ उनके हृदय में अनायास प्रवाहित होती हैं।''[18] आज भी ''तमिल प्रदेश के घर–घर में

मार्गशीर्ष मास में प्रातः काल तिरुप्पावै के गीत श्रद्धा से गाए जाते हैं''[19] दूसरी रचना 'नाच्चियार तिरुमोलि' में भक्ति के 143 पद हैं। जिसमें प्रियतमा आण्डाल के विरह उद्‌गारों का वर्णन है। आण्डाल श्रीरंगनाथ से प्रेम करती हैं। दक्षिण की गोदा की तुलना उत्तर की मीरा से की गई है। आण्डाल अपने विवाह का वर्णन इस प्रकार करती हैं–

'सखि! सपना देखा मैंने

बज रहे हैं ढ़ोल के संग विविध वाद्य वृंद

हो रही है शुभ्र शंख की मंगल ध्वनि

सुसज्जित है विवाह मण्डप

मणि–विद्रुम की कमनीय लड़ियों से

पधार रहें हैं मणि मण्डप में

प्रियतम मधुसूदन

लेकर मेरा हाथ निज करतल में

कर रहें हैं मेरा पाणि ग्रहण

सखि ऐसा सुंदर सपना देखा।[20]

गोदा का स्वप्न शीघ्र साकार हुआ। उनका विवाह श्रीरंगनाथ से संपन्न हुआ। अंततः वह उनकी मूर्ति में ही तिरोहित हो गई। इन्हें दक्षिण की मीरा भी कहा जाता है।

तोण्डरअडिप्पोडि आल्वार

इनके नाम का अर्थ है 'भक्तों की चरण रज'। इन्हें 'भक्तघ्रिरेणु' कहा जाता हैं। इनका जन्म 8वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध 9वीं शताब्दी के पूवार्द्ध में माना जाता है। इनका जन्म

ब्राह्मण कुल में तंजौर के भडकुडी गाँव में हुआ। उन्होंने श्रीरंगनाथ की अराधना की। इनकी दो रचनाएँ तिरुमालै (पवित्र माला) जिनमें भक्ति के 45 पद तथा दूसरा तिरुप्पल्लि एलुच्चि (भगवान को जगाने के प्रभात गीत) 10 पद प्रबंधम् में संगृहीत है। उनके पदों में विरक्ति की भावना के दर्शन होते है।

''श्रीरंग में सुशोभित मेरे प्रभु!

मानव की उम्र शतायु मान लें तो

उसमें आधा भाग निद्रा में बीत जाता है।

शेष पचास वर्ष बचपन, यौवन में बीत जाता है।

इस पर रोग, भूख, बुढ़ापा आदि दुख सताते हैं।

हे प्रभो!

मैं कोई जन्म ही नहीं चाहता।''[21]

तिरुप्पाणल्वार

तिरुप्पाणल्वार का संस्कृत अनुदित नाम 'योगिवाह' है। इनका जन्म श्रीरंग क्षेत्र से चार मील की दूरी पर स्थित उरैयूर में पावर् नामक चतुर्थ वर्ण में हुआ। इनकी एकमात्र दस पदों वाली 'अमलानादिपिरान्' शीर्षक कविता प्रबंधम् में संगृहीत हैं। आल्वार ने श्रीरंगनाथ के प्रति अपने उद्गारों को व्यक्त करते हुए अपना सर्वस्व उन्हीं को समर्पित कर दिया है। 'अमरानादिपिरान् के धार्मिक महत्त्व को स्वीकार कर आज भी दक्षिण के विष्णु मंदिरों में नियानुसंधान कार्यक्रम में इसे स्थान दिया गया है।'[22] तिरुप्पाणल्वार की भक्ति दास्य भाव की भक्ति है। आल्वार के पदों में माधुर्य भाव के भी दर्शन होते हैं।

'महान वटवृक्षों के एक पत्र पर सोनेवाले बालक हो,

सात लोकों को निगलने वाले हो,

श्रीरंग में सर्पशय्या पर निवास करने हो,

तुम्हारे सुंदर नील मणिहार, मुक्तादाम और

अनंत सौंदर्य से युक्त नीलवर्ण शरीर ने

मेरे मन को घायल कर, उसे चंचल कर दिया है।[23]

कृष्ण प्रेम की मादकता से पूरित इनके पद सहृदय पाठक को उद्वेलित कर देते हैं।

तिरुमंगै आल्वार

तिरुमंगै आल्वार जिनका अन्य नाम 'परकाल' है, इनका जन्म तमिल प्रदेश के चोल मण्डल में कुरैपलूर में चतुर्थ वर्ण में हुआ। ''नन्दिवर्मन पल्लवमल विष्णुपूजक तथा विद्या का बहुत बड़ा संरक्षक था। महान वैष्णव संत तिरुमंगै आल्वार उनके समसामयिक थे।''[24] तिरुमंगै आल्वार युद्ध प्रिय, लडाकू, दानी स्वभाव के तथा वैष्णव भक्तों की सेवा में रत रहने वाले माने जाते थे। तिरुमंगै आल्वार के भजनों में नांगूर की, वहाँ के योद्धाओं की शूरता के कारण बार–बार अराधना की गई है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

पेरियतिरुमोलि	**1084 पद**
तिरुक्करूताण्डकम्	**20 पद**
तिरुनेडुण्ताण्डकतम्	**30 पद**
तिरुवेलुकूर्रिरुक्कै	**1 पद**
शिरिय तिरुमडल	**40 पद**
पेरिय तिरूमडल	**78 पद**

तिरुमंगै आल्वार की भक्ति में रौद्र रस भी नज़र आता है साथ ही साथ दास्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति के भी दर्शन होते हैं। ''हरिण सम मनोहर नयनवाली नपिन्नै हेतु, युद्धरत सात वृषभों का संहार करने वाले, पर्वत के समान भुजाओंवाले, मधु! श्रीवेंकट महापर्वत में प्रेम के साथ निवास करने वाले मेरे स्वामी! मेरे मन को अपना निवास स्थान बना विराजित हो।''[25]

3.3 आल्वार संतों का 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्'

तमिल साहित्य भारतवर्ष का उत्कृष्ट साहित्य है तथा द्रविड़ भाषाओं में सर्वप्रथम माना जाता है। चोल और चेर राजाओं के प्रोत्साहन से जैन, बौद्ध, शैव तथा वैष्णव विद्वानों ने इस साहित्य की बहुत उन्नति की और अनेकानेक लेखकों ने अपनी–अपनी रचनाओं द्वारा तमिल साहित्य के भण्डार को भर दिया। सर्वप्रथम तमिल भाषा में वैष्णव भक्ति के मूल ग्रंथ का आविर्भाव आल्वार संतों द्वारा हुआ।

आल्वार संतों ने अपने आराध्य श्रीमन्नारायण के स्वरूप, गुण, लीला का अनुभव विविध प्रकार से किया है तथा इसे पद्यमाला में पिरोया है, जिसमें 4000 पद्य है। इस विपुल भक्ति साहित्य को 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' कहते हैं। भारतीय वैष्णव भक्ति काव्य में आल्वार साहित्य 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' का अद्वितीय स्थान है। यह वैष्णव भक्ति साहित्य को आल्वारों की ओर से महत्त्वपूर्ण भेंट है। प्रबंधम् ईसा की छठी से नवीं शताब्दी के मध्य तमिल प्रांत में उत्पन्न बारह आल्वार संतों द्वारा तमिल भाषा में रचित चौबीस रचनाओं का संकलन है।

दिव्य प्रबंधम् में विष्णु के अर्चावतारों की स्तुति की गई है। वाराह, नरसिंह, वामन, राम और कृष्ण आदि की महिमा का गुणगान किया गया है। डॉ. रविंद्र कुमार सेठ आल्वार संतों की रचना के विषय में अपना मत प्रकट करते हैं कि ''आल्वारों का युग महाकाव्यों की रचना के लिए अनुकूल न था। अतः रामकथा या कृष्णकथा को लेकर महाकाव्य

रचने की ओर वे प्रवृत्त नहीं हुए। परंतु उन्होंने रामावतार और कृष्णावतार के कुछ विशिष्ट प्रसंगों को लेकर असंख्य पद रच डाले। तमिल में महाकाव्य के रूप में 'रामायण' की रचना 11वीं शताब्दीं में महाकवि कंबन द्वारा हुई। परंतु कंबन को भी रामायण लिखने की प्रेरणा आल्वारों, विशेषतः कुलशेखर आल्वार के काव्य से मिली।''[26] श्रुतियों के अनुसार कंबन, आल्वार संत नम्मालवार से अधिक प्रभावित थे। नम्मालवार की स्तुति में कंबन ने 'शठगोपरन्तादि' नामक ग्रंथ की रचना कर डाली थी।

'प्रबंधम्' का सर्वाधिक महत्व भारतीय भक्ति आंदोलन के मूल ग्रंथ के रूप में है। प्रबंधम् को तमिल के वेद की संज्ञा दी जाती है। डॉ. मलिक मोहम्मद कहते हैं, ''नवीं शताब्दी के पश्चात् ही तमिल जनता ने आल्वार साहित्य के वास्तविक महत्व को पूर्ण रूप से जाना। विचारक आल्वार–साहित्य–सागर में गोता लगाकर अमूल्य विचार को खोज निकालने लगे। प्रबंधम् की अनेक टीकाएँ निकली। तमिल और संस्कृत में अनेक भाष्य निकले। आल्वारों की स्तुति में सैकड़ों पुस्तकें लिखी गयीं। जनता की दृष्टि में 'प्रबंधम्' वेदों से भी अधिक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण दीख पड़ा। फलस्वरूप मंदिरों में आळवार–पदों के गायन का विशेष प्रबंध किया गया और इस प्रकार आळवार–पदों का गायन जनता के धार्मिक जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया।''[27]

आल्वार संतों के विशेषज्ञ डॉ. मलिक मोहम्मद अपनी पुस्तक 'वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन' में कहते हैं, ''आल्वार पूर्व तमिल के संघ साहित्य के लौकिक प्रेम–काव्यों में नायक–नायिका संबंध के संयोग–वियोग दोनों पक्षों की जिन दशाओं का निर्वाह किया गया था, उन सबका आल्वारों ने प्रयोग कर नायक–नायिका भाव से अर्थात् मधुर भाव से भक्त और ईश्वर के संबंध को पहली बार अभिव्यक्त किया था। वैष्णव भक्ति साहित्य में मधुर भक्ति का उद्‌गम यहीं से मानना चाहिए।''[28] आल्वारों संतों द्वारा प्रतिपादित यह रागात्मक भक्ति भारतीय संस्कृति को दक्षिण भारत की महत्त्वपूर्ण देन है।

''इस दिव्य प्रबंधम् की महत्ता को सिद्ध करने वाले महान् आचार्यों में नाथमुनि, आलवन्दार, रामानुजस्वामी, कुरत्ताल्वान्, पराशर भट्ट, वेदांत देशिक, मणवाल मामुनि आदि विशेष

उल्लेखनीय हैं।''[29] दिव्य प्रबंधम् का यह रचना–संग्रह दसवीं सदी में नाथमुनि के समय में सम्पादित हुआ था। कहा जाता है कि दिव्य प्रबन्ध की सभी रचनाएँ एक काल में खो चुकी थीं। पुनः अत्यधिक प्रयत्न से इन पद्यों को प्रकाश में लाने का श्रेय नाथमुनि को ही है। ''नाथ मुनि ने आल्वारों के चार सहस्त्र पदों का संकलन एवं संपादन किया। वे चार सहस्त्र प्रबंधम् ही चार तमिल वेद हैं। यामुनाचार्य ने प्रबन्धम् को संस्कृत के दिव्य ग्रंथों की प्रतिष्ठा दी और तब से इन्हें 'दिव्य प्रबंधम्' कहा जाने लगा। यामुनाचार्य, नाथ मुनि के पौत्र थे।''[30]

डॉ. सेवा सिंह अपनी पुस्तक 'भक्ति और जन' में नालायिर दिव्य प्रबंधम् की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए कहते हैं, ''नालायिर प्रबंधम्' का संकलन मुख्यतः ब्राह्मणों द्वारा अपने हितों को ध्यान में रखकर किया गया था और इसीलिए उसमें सामाजिक विरोध का स्वर गूंजता दिखाई नहीं पड़ता। आल्वारों के भक्ति सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य यह रहा लगता है कि उत्पादन के आर्थिक पक्ष से सम्बन्धित उस नए प्रबन्ध को कठोर अनुशासनबद्ध व्यवस्था के रूप में परिणत किया जा सके जो कृषि जोतों और ग्रामीण दस्तकारों की सेवाओं को विभिन्न प्रकार के माफीदार पुजारियों को बड़े पैमाने पर हस्तांतरित कर दिये जाने के फलस्वरूप विकसित हो चुका था। इसके बिना भक्ति आंदोलन में शूद्रों की भागीदारी सिद्ध नहीं की जा सकती।''[31] डॉ. सेवा सिंह ने आल्वारों की कड़ी आलोचना की है तथा इनके भक्ति काव्य प्रबंधम् को भी ब्राह्मणवादी घोषित किया है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं, ''दिव्य प्रबंध अपने पूरे विस्तार में भारतीय राष्ट्रीय–सांस्कृतिक एकता का विलक्षण साक्ष्य है। भाषा साहित्य के अंतर्गत भक्ति काव्य की अग्रणी भूमिका में उस की व्यापक दृष्टि आश्चर्यचकित करने वाली है, और है उन अंग्रेज़ तथा अंग्रेज़निष्ठ विचारकों के लिए करारा जवाब, जो मानते है कि भारतीय राष्ट्रीय एकता अंग्रेजों के शासन का फल है''[32]

विद्वानों के नालायिर दिव्य प्रबंधम् के विषय में मतों में विभेद नज़र आता है। प्रबंधम् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह आल्वारों ने किसी साम्प्रदायिक भावना या किसी ब्राह्मणवादी विचारधारा से प्रेरित होकर इन पदों का गान नहीं किया अपितु श्रीमन्नाारायण के विविध अवतारों को अपने ईश बनाकर गुणगान किया है। उनकी लीलाओं का गायन किया है।

3.4 श्रीमद्भागवत और नालायिर दिव्य प्रबंधम्

श्रीमद्भागवत वैष्णवों का महान् ग्रंथ है। जिसमें बारह स्कन्ध है। इस ग्रंथ में ईश्वर के विविध अवतारों का उनकी लीलाओं सहित वर्णन किया गया है। प्रबंधम् और भागवत का अंतर बताते हुए डॉ. मलिक मोहम्मद प्रबंधम् को विशिष्टतावादी विचाराधारा का स्रोत कहते हैं, ''प्रबंधम् एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं और वह विविध समयों में भक्ति के भावावेश के क्षणों में गाए गए पदों का संकलन है, जबकि भागवत एक ही व्यक्ति की रचना होने के कारण प्रबंधम् की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित रूप में है। यही कारण है कि प्रबंधम् में कृष्ण चरित्र क्रमबद्ध रूप में वर्णित है। भागवत में भक्ति तथा दर्शन के तत्त्वों का विवेचन शास्त्रीय ढ़ंग से व्यवस्थित रूप में हुआ है। परंतु ये ही तत्त्व प्रबंधम् में बिखरे पड़े हैं।''[33] प्रबंधम् के पद व्यवस्थित रूप में नहीं है। जबकि भागवत में इन पदों का क्रमानुसार विवेचन है।

सुवीरा जायसवाल 'गीता' में भक्ति को विनयपूर्वक भगवान की उपासना न मानकर बौद्धिक विश्वास और श्रद्धा कहती हैं, ''भगवद्गीता में भक्ति का तात्पर्य परमात्मा के प्रति विशुद्ध प्रेम से है, जो यद्यपि अपने भीतर संपूर्ण विश्व को धारण किए हुए है तथा अकल्पनीय है, तथापि एक ऐसा साकार एवं अर्चनीय रूप रखता है, जिसके साथ उपासक वैसी घनिष्ठ आत्मीयता के भाव का अनुभव कर सके, जैसी आत्मीयता मित्र और मित्र, पिता और पुत्र तथा प्रेमी और प्रेमिका के बीच होती है। पर उसमें (गीता) भावुक प्रेम का पुट नहीं है। भगवान के प्रति अपनी प्रेमपूर्ण उपासना में भक्त उनके लोकातीतत्त्व तथा महिमा से पूर्णतः अभिज्ञ रहता है तथा वह पूरी विनम्रता के साथ उनके अनुग्रह की याचना करता है। गीता में उस परमात्मा के प्रति, भक्ति मिश्रित भय तथा श्रद्धा का वातावरण उपस्थित किया गया है, जिसका रूप आतंककारी है; किंतु जो भक्तों के कल्याणार्थ अधिक सह्य रूप धारण करना स्वीकार कर लेता है।''[34] भागवत में विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन मिलता है। क्रमानुसार एक बंधी हुई परिपाटी में कथाओं का वर्णन है। जहाँ ईश्वर के प्रति श्रद्धा, विश्वास के

साथ–साथ एक भयमिश्रित भक्ति है। भागवत का प्रेम एक बंधन स्वरूप प्रेम है जबकि प्रबंधम् का प्रेम उन्मुक्त प्रेम है।

सुवीरा जायसवाल आल्वार प्रेम की अनुभूति का वर्णन करते हुए कहती हैं, ''भागवत भक्ति की धारणा में श्रृंगारात्मक रहस्यवादी प्रवृत्ति कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती : इस तत्त्व का समावेश अंततः गोप देवता कृष्ण के साथ नारायण के एकीकरण के परिणामस्वरूप हुआ। कृष्ण का प्रारंभिक जीवन, जैसा कि हरिवंश और विष्णु पुराण में वर्णित है, प्रकृतितः ऐंद्रिक और मानवीय है और इसलिए बहुत संभव है कि उनकी लोकप्रचलित उपासना का भावात्मक झुकाव श्रृंगारिकता की ओर रहा हो। किंतु अपने भक्तों की अभिलाषाओं की पूर्ति करने वाले तथा उनके प्रेम के प्रतिदान में तत्पर रहने वाले भगवान के प्रति प्रेम भावना से भरी भावात्मक भक्ति की अभिव्यक्ति आगे चलकर तमिल अलवार संतों के पदों में हुई।''[35]

श्रीमद्भागवत दिव्य प्रबंधम् के बाद की रचना मानी जाती है। भागवत के रचनाकार तमिल प्रदेश के थे, जो प्रबंधम् और संस्कृत दोनों के विद्वान थे। भागवतकार ने प्रबंधम् के पदों को सुव्यवस्थित करने का अद्भुत कार्य किया। प्रबंधम् में ऐसी बहुत सी बातों के दर्शन होते है जो भागवत में नहीं है। भागवत में 'राधा' का नामोल्लेख नहीं मिलता। राधा नाम के स्थान पर एक विशिष्ट गोपी का उल्लेख होता है। प्रबंधम् में 'नपिन्नै' नाम से राधा का ही वर्णन है। जो कृष्ण के साथ विविध लीलाएं करती है।

3.5 आल्वार संतों के काव्य का दार्शनिक स्वरुप

आल्वार संतों ने विष्णु की महत्ता का प्रतिपादन किया है। श्रीपति नारायण को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उन्हीं की भक्ति पर विशेष बल दिया है। इनके जीवन का एक ही व्रत था–विष्णु के विशुद्ध प्रेम में स्वतः लीन होना तथा अपने उपदेशों द्वारा दूसरों को लीन करना। पहले की दर्शनधाराओं के दर्शन में ईश्वर हमारे भीतर है, उस (ईश्वर) को खोजने की कोशिश की जाती थी। भक्तिकाल के कवियों ने ईश्वर के अंदर मनुष्य खोजने की कोशिश की। ईश्वर

एकदम साक्षात् हो गए और वे उनके क्रियाकलापों एवं मनोविकारों का विवेचन करने लगे। तमिल की पुरानी कविता में मनुष्य के रूप में देवता की कल्पना नहीं है। आल्वारों के यहाँ सर्वप्रथम उसे मनुष्य के रूप में ढ़ालने की कोशिश होती है और वह भी उसी रूप में जिसमें जनता बातचीत करती है। आल्वारों के यहाँ कृष्ण के मंगल की कामना की गई है। आल्वार केवल भक्त नहीं थे अपितु दर्शन के सारवेत्ता भी थे। आल्वार संतों की रचना में भक्ति एवं दर्शन का समन्वय मिलता है। उनकी उपासना में शरणागति के महत्त्व का उल्लेख हुआ है। आल्वारों की दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि उन्होंने वेद, गीता, पांचरात्र संहिताओं आदि के दार्शनिक सिद्धांतों को व्यापक मात्रा में स्वीकार किया है। जिसके कारण उनके साहित्य में एक ओर निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का तथा दूसरी ओर चिद्–अचिद् विशिष्ट एवं सगुण भगवान की रसमय भक्ति का निरुपण हुआ है। आल्वारों के यहाँ ब्रह्म, जीव, जगत, माया एवं मोक्ष के संबंध में दार्शनिक विचारों के केंद्र में सगुण श्रीनारायण की महत्ता का ही प्रतिपादन हुआ है।

ब्रह्म तथा विष्णु अथवा नारायण

आल्वार संतों ने वाराह, नरसिंह, वामन, राम, कृष्ण एवं विष्णु के श्रीरंगनाथ स्वरूप को अपनी भक्ति का आधार बनाया है। आल्वारों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म सगुण भी है निर्गुण भी। वे ही आदि, अमर, अनंत है। आल्वारों के नारायण ही सर्वव्यापक, सर्वकल्याणकारी, सर्वेश्वर, नियामक, नियंत्रक एवं संहारकर्त्ता भी वही है। ''श्रीपति नारायण ही परतत्त्व है जो अचेतन उनके शरीर है।''[36] ब्रह्मा एवं रूद्र भी उनके अधीन है।

पोयगै आल्वार नारायण की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कह रहे हैं, ''सभी देवताओं के आधारभूत परमात्मा नारायण ने ही ब्रह्मा, रूद्र तथा अन्य छोटे–बड़े देवताओं की सृष्टि की और उन्हें अपने–अपने चेतनाचेतन कार्यों के लिए सशक्त बनाया।''[37] इसी प्रकार एक अन्य पद में वह अन्य सभी देवी–देवताओं की प्रार्थना करना व्यर्थ बता रहे हैं, ''सर्वकारण भूत कृपालु नारायण की कृपा या प्रसाद को छोड़कर सागर से घिरे हुए इस संसार में अन्य

सभी देवी–देवताओं की कृपा या प्रसाद व्यर्थ ही है।''[38] भूत्ततु आल्वार नारायण को समस्तप्रपंच एवं सृष्टि का नियंता मानते हुए उन्हें ही संहारक एवं मोक्ष दाता मान रहे हैं ''समस्त प्रपंच, प्रपंच के कार्य, प्रपंच के आधार पंचभूत और उनसे बना शरीर और शरीरगत पंच इंद्रियाँ, अर्थात् सृष्टि के आधारभूत तमाम तत्त्व, प्रलयकाल की बडवाग्नि जो प्रलयकाल में समस्त सागर को जला देती है, सांसारिक जीवन तथा मोक्ष आदि भगवान नारायण ही हैं।''[39] ''पेयाल्वार नारायण को सर्वस्व मानते हुए कह रहे हैं समस्त विश्व में विद्यमान सारी चेतन–अचेतन वस्तुऐं, तपस्या के द्वारा दिव्य शरीर प्राप्त ब्रह्मा आदि देवता, नक्षत्र, अग्नि, पर्वत, सारी दिशायें, सूर्य–चंद्र–ये सब भगवान नारायण के ही शरीर हैं। भगवान नारायण अनुपम हैं–स्वयं उपमान है और उपमेय भी है; वे शरीर भी है, शरीरी भी वही हैं।''[40] नारायण साधारण मनुष्यों द्वारा समझे नहीं जा सकते अपितु वे तो वेद–वेदांगों द्वारा भी समझ से परे हैं ''ज्ञानी लोग अनुसंधान कर निरूपित हैं कि भगवान नारायण ही एकमात्र परब्रह्म हैं फिर भी परमात्मा की अपार महिमा को कोई पूर्णतः समझ नहीं पाते। वेद–वेदांगों द्वारा भी भगवान नारायण की सम्पूर्ण स्थापना नहीं हो पाती।''[41] आल्वार संतों के जीवन का एक ही व्रत था। विष्णु के विशुद्ध प्रेम में लीन होना एवं अपने उपदेशों द्वारा दूसरे को लीन करना।

आल्वार संतों ने सर्वस्व नारायण को ही समर्पित कर दिया है। वे ही पूर्णब्रह्म के रूप में मान्यता प्राप्त करते हैं। ''इनका ईश्वरवाद एक ऐसे पुरुषोत्तम में श्रद्धा और विश्वास की प्रेरणा देता है, जो अत्यंत दयावान है और अपने भक्तों का त्राणकर्ता है।''[42] सभी आल्वार एक भक्त कवि थे। एक दर्शनाचार्य के रूप में उन्होंने अपने दर्शन की व्याख्या नहीं की है अपितु उन्होंने नारायण को केंद्र में रखकर उनकी लीलाओं का विशद् वर्णन किया है। नारायण को ही ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है।

जीव

आल्वार संत जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं। किसी भी जीव को ब्रह्म अथवा भगवत् प्राप्ति के लिए कठोर नियमों का पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ''आल्वारों

के मतानुसार जीव परमात्मा का नियाम्य है, वह एक शेषी सत्ता का शेष है, अंशी का अंश है और विशेष्य का विशेषण है।''[43] आल्वार जीवों को समझाते हैं तथा सभी को समानता की दृष्टि से देखते हैं भगवान के अनुग्रह को ही महत्त्व देते हुए कहते हैं, ''चाहे पशु हो या मानव या कोई भी जीव–जन्तु–भगवान की अराधना के लिए किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है, केवल चाहिए भगवान के प्रति भक्ति और भगवान का अनुग्रह।''[44] आल्वार के अनुसार भक्त जिस रूप में चाहते हैं, वही उसका रूप है; भक्त जिस किसी भी विधि से उसकी उपासना करें, उसी ढ़ग से विष्णु भगवान उसके उपास्य बन जाते हैं।

भूत्ततू आल्वार नारायण को शेषी और चेतन मानव को शेष बताते हुए, शेषी एवं शेष का संबंध स्थापित करते है ''यदि चेतन मानव अपने इस शेषत्त्व को समझने में भले ही असमर्थ हो, फिर भी भगवान नारायण को अपने अंतस्तल में पाने की उसकी उत्कंठा मात्र पर्याप्त है।''[45] प्रपत्तिमूलक पदों की रचना आल्वारों ने की है जिसमें वह समस्त सुख, कामना, वासनाओं को त्यागकर केवल भगवान नारायण का सामीप्य चाहते हैं ''भक्त आल्वार कुलशेखर का कहना है, ''भले ही अमर यौवन से भरपूर अति सुंदरी रंभा आदि अप्सराओं आदि से घिरे हुए इंद्र आदि देवादिदेवों का वैभव संपन्न स्वर्गिक पद एवं समस्त भूलोक का साम्राज्य मिल भी जाएं, फिर भी मैं उन्हें नहीं चाहूँगा। मैं चाहूँगा तो केवल यह कि मधुभरित उद्यानों से मंड़ित श्रीवेंकटपर्वत के तालों में मछली के रूप में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हो।''[46] इसी प्रकार तोण्डरअडिप्पोडि आल्वार भी सांसारिक विषयों से मुक्ति चाहते हुए पुनः जन्म भी नहीं लेना चाहतें। वे जीवन के अन्यथा व्यतीत हुए समय एवं विषयों में कहते हैं–

''श्रीरंग में सुशोभित मेरे प्रभु

मानव की उम्र शतायु मान लें तो

उसमें आधा भाग निद्रा में बीत जाता है।

शेष पचास वर्ष बचपन, यौवन में बीत जाता है।

इस पर रोग, भूख, बुढ़ापा आदि दुख सताते हैं।

हे प्रभो!

मैं कोई जन्म ही नहीं चाहता।''[47]

आल्वार संतों के अनुसार वह जीव, जीव नहीं जिसने हरि की भक्ति नहीं की। वह अपराधी है और पृथ्वी के लिए भारस्वरूप है। भक्त जीव ही भगवान को प्रिय है। भगवान को प्राप्त करने के लिए स्वयं के शरीर को कष्ट देने की कोई आवश्यकता नहीं है अपितु भक्ति द्वारा ही जीव, ब्रह्म का वरण कर सकता है।

जगत्

आल्वार संतों ने जगत् को सत्य और नित्य माना है। दूसरी ओर आल्वारों ने इस जगत् को अनित्य एवं मायायुक्त भी कहा है। आल्वार समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति को भगवान नारायण का संकल्प मात्र मानते हैं। ''आकाश, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी–ये पंच भूत, सूर्य, चंद्र, मेघ, चेतनप्राणी, आठों दिशाएँ, उनमें परिव्याप्त स्थान, इन सबका समावेत रूप अखिल ब्रह्माण्ड भगवान नारायण के संकल्प मात्र से उद्भूत है।''[48] वह समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को नारायण का संकल्प मात्र मानते हैं। आल्वार संत इस जगत् को अविद्या तथा दुर्भाग्य युक्त मानते हैं इसलिए पुनः इस जगत् को स्वीकार करना नहीं चाहते। नम्मालवार कहते हैं ''सकल प्राणियों की रक्षा करने के लिए विभिन्न रूपों में अवतरित होने वाले हे परमात्मा! अमरों के अधिपति हे भगवान नारायण! कृपया मुझ दास का विनम्र निवेदन सुनें। अविद्या तथा दुर्व्यव्यवहारों से युक्त इस अशुद्ध शरीर के साथ भव जीवन जीने का दुर्भाग्य हमें न मिला करे–ऐसी कृपा करें।''[49]

आल्वार संतों ने सारे जगत् तथा तमाम सृष्टियों का कारणभूत भगवान नारायण को ही माना है। जगत् का पालन, संचालन एवं विलयन उस ब्रह्म की ही लीलाएँ हैं।

माया

ब्रह्म अथवा नारायण को ही आल्वार संतों ने मायापति की संज्ञा दी है। ये समस्त चराचर जगत् उसकी माया है तथा जीव उसी ब्रह्म की माया के अधीन है। ''आल्वार एक ओर

कहते हैं महाप्रलय काल में जब किसी जगत् या जीव का अस्तित्त्व नहीं था, तब ब्रह्म ने अपनी माया से उत्प्रेरित होकर सृष्टि विकास का कार्य किया और दूसरी ओर कहते हैं कि अविद्या माया के जाल में पड़कर जीव अपने स्वंय प्रकाश रूप से विमुख हो व्यामोह चक्र के आवर्त में घूमा करता है।''[50] उनकी माया को समझने में आल्वार स्वंय को असमर्थ मान रहे हैं। वहीं इस संसार रूपी माया को रचने वाले हैं। इस माया के प्रभाव से ही जीव अपने कर्म की ओर उन्मुक्त होता है और इसी के कारण भ्रम की स्थिति में रहता है। तिरुमलिशै आल्वार नारायण को ही ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ज्योति स्वरूप, वेद, यज्ञ आदि मानते हैं इन सबको उसी की माया बताते हैं–

''तुम आदि, आदि आदि हो।

तुम ब्रह्माण्ड के आदि हो।

तुम ज्योति स्वरूप हो।

तुम प्रकाशमान हो।

तुम वेद हो, यज्ञ हो, आकाश के साथ भूमि भी हो।

तुम आदि भी हो, अहीर भी हो।

यह कैसी माया है।''[51]

उस ब्रह्म की माया को समझ ना पाने के कारण नम्मालवार अपनी विवशता इस प्रकार प्रकट कर रहे है

''एक चरण आगे बढ़ाकर,

नीचे की सागर परिवृत भूमि को मापकर,

दूसरे चरण से सब लोकों को मापनेवाले मायावी!

तुम्हें देखने की लालसा से, विह्वल होकर

न जाने कितने दिन आग के पास स्थित मोम के सदृश

मैं इस लोक में मारे–मारे फिरता रहूँ।''[52]

मोक्ष

आल्वार संतों ने भक्त (जीव) एवं ईश्वर (ब्रह्म) के सामीप्य को ही मोक्ष की संज्ञा प्रदान की है। परम भक्ति शरणागति द्वारा ही उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। आल्वार संत स्वर्ग या बैकुण्ठ प्राप्त कर लेना मोक्ष नहीं समझते अपितु प्रभु के नैकट्य को ही मोक्ष मानते हैं। भगवान नारायण भक्त की रक्षा के लिए कितने तत्पर रहते हैं। अपने बात को सिद्ध करने के लिए आल्वार ने गजेंद्र मोक्ष की कथा को उद्धृत करते हैं। उसी को प्रणाम करने से मुक्ति मिलेगी। पोयगै आल्वार कहते हैं–

जो अविनाशी है,

जो दृष्टि से परे है,

जिसके हज़ारों नाम हैं।

जिसकी आँखों में अरुणाई है।

वह श्याम सुंदर हैं,

उसे करबद्ध प्रणाम करने से पाप–पुण्य से मुक्ति मिलेगी।

नरक से छुटकारा मिलेगा, कुमार्ग से बचेंगें।''[53]

भूत्ततुआल्वार के अनुसार ''चेतन भक्त मानव को प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका सारा भार भगवान नारायण अपने ऊपर ले लेते हैं और अपनी शक्ति से उसका सारा कार्य कर देते हैं।''[54] नाम्मालवार केवल नारायण को शरण्य समझते हुए विविध क्रियाओं के माध्यम से उन्हें ही संसार सागर से मुक्ति प्रदान करने वाला मानते हैं।

''बहुत पहले महाप्रलय में डूबी पृथ्वी का वाराहवतार लेकर भगवान नारायण ने उद्धार किया था और पृथ्वी को भयानक प्रलय धारा से बाहर लाकर प्रतिस्थापित किया था। वही भगवान नारायण कल्पवृक्षों से सम्पन्न स्वर्गलोक के देवों, उनसे भिन्न मनुष्यों, नाग आदि विभिन्न प्रकार की सृष्टियों तथा अन्य स्थावर जंगम वस्तुओं को ज्ञान प्रदान करने वाले स्वामी है।''[55]

नम्मालवार तथा आण्ड़ाल ने अनेक पदों में कांता भाव की भक्ति कर मोक्ष की कामना की है। ''आल्वार भक्त शास्त्र के निष्णात विद्वान न होकर भक्ति रस सिक्त थे। इनके जीवन का एक मात्र आधार था प्रपत्ति; भगवद्कृपा पर ही आश्रित रहकर भगवान का नाम स्मरण तथा ध्यान करना ही इन आल्वारों के लिए भगवद् प्राप्ति का एकमात्र साधन था।''[56] आल्वारों के अनुसार मोक्ष विष्णु भक्ति पर ही निर्भर था, कर्मकाण्ड़ों अथवा यज्ञों पर नहीं। वैष्णव धर्म का सबसे मुख्य सिद्धांत विष्णु की एकांतिक भक्ति था। प्रत्येक व्यक्ति को किसी फलेच्छा के बिना अपना कर्तव्य भी करना होता है।

वैष्णव सम्प्रदाय ने इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर सबके लिए गम्य है, उसके लिए जात–पांत की कोई बाधा नहीं है। इस मामले में यह नया धर्म अधिक जनतांत्रिक था। ''वैष्णव सम्प्रदाय के रहस्यमय गीतों में ईश्वर को प्रायः एक प्रेमी के रूप में चित्रित किया था और भक्त को प्रायः एक कन्या के रूप में–जो अपने प्रेमी के लिए व्याकुल रहती थी।''[57]

आल्वार संतों के दर्शन में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया मोक्ष सभी नारायण की सेवा एवं अनुग्रह द्वारा उन्हीं की कृपा से संभव है। ''आल्वारों का सिद्धांत है कि भगवान एवं भगवद्भक्तों का कैंकर्य (सेवा) ही सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ है, जो इहलौकिक ऐश्वर्य से बढ़कर विलक्षण और स्थिर होता है। उनकी दृष्टि में अर्चावतार मूर्तियाँ दिव्य मंगल विग्रहवाले सभी, शुभ एवं कल्याण गुण परिपूर्ण भगवान है। परमपद निवासी, अवताररूपी या अर्चारूपी भगवान के सभी स्वरूप इसके लिए समान एवं ग्राह्य है। इनमें कोई अंतर नहीं होता।''[58] आल्वार संतों ने वेदांत को रसपूर्ण कलात्मक रूप देकर आम जनता के लिए आकर्षक एवं ग्राह्य बनाया।

3.6 दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

तत्कालीन भक्ति आंदोलन एक क्रांतिकारी आंदोलन था। किसी भी क्रांति के उत्पन्न होने में समय लगता है। यह समय परिवर्तित होती राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों पर निर्भर करता है। दक्षिण भारत में जब भक्ति आंदोलन की शुरुआत हुई। उस समय वहाँ के परिवेश और परिस्थितियों को जानने का प्रयत्न किया गया है। जो कि इस क्रांतिकारी आंदोलन के उद्‌भव में सहायक थी।

3.6.1 दक्षिण भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ

भारत का इतिहास पुस्तक में रोमिला थापर स्पष्ट करती हैं, ''मध्य छठी शताब्दीं के बाद तीन सौ वर्ष तक तीन मुख्य राज संघर्ष में व्यस्त रहे। ये राज्य थे बादामी के चालुक्य, कांचीपुरम् के पल्लव और मदुरई के पांड्य।''[59] ये तीनों मुख्य राज्यों की गणना में आते हैं। इनके अतिरिक्त ''दक्षिण भारत के राज्य–दक्षिण भारत में कल्याणी, वातापी (बादामी), बेंगी के चालुक्य, मान्यखेत के राष्ट्रकूट, वारंगल के काकतीय, वनवासी के कदम्ब, मैसूर के गंग एवं द्वारसमुद्र के होयसल प्रसिद्ध थे।''[60] दक्षिण के छोटे–छोटे राज्य पारस्परिक संघर्षों में लगे रहते थे। जिसके कारण धन–जन की अत्यधिक हानि होती थी। ''सम्राट सर्वशक्तिमान होता था। किंतु राजा को राज धर्म, स्मार्त पौराणिक व्यवस्था तथा लौकिक परंपरा के साथ ही केंद्रीय सत्ता को समयानुसार दुर्बल करने वाले सामंती ढ़ांचे के कारण सर्वथा निरंकुश मानना कठिन लगता है। वंशगत उत्तराधिकार के प्रचलन के कारण युवराज का प्रशासन में बहुत महत्त्व था। अनेक मंत्री तथा उत्तराधिकारी प्रशासन में राजा की सहायता करते थे।''[61] ''परंपरागत राजधर्म के अनुसार, प्रजाहित के विरुद्ध राजा कोई कार्य नहीं कर सकता था। प्रजा को अप्रसन्न करना राजा के हित के लिए खतरनाक होता था। अतएव राजा प्रजाहितैषी बनने की कोशिश करता था।''[62] धर्मों, सम्प्रदायों, वर्गों के विषय में प्रशांत गौरव कहते हैं, ''राज्य में उपलब्ध जातियों, निगमों, सम्प्रदायों गाँवों, मंदिरों और शेष सभी वर्गों के बीच शांति और व्यवस्था बनाए

रखना राजा का कर्तव्य था। राजा सभी धर्मों को एक नजर से देखता, ताकि राज्य में धार्मिक तनाव का वातावरण न बने। कर की दर निर्धारित करने का अधिकार पूर्ण रूप से राजा को नहीं था। सारे राज्य में एक ही दर से कर नहीं वसूला जाता था। सामंतो और मंदिरों द्वारा अलग–अलग कर लगाए जाते थे।''[63] दक्षिण भारत के प्रशासनिक मामलों में राज्यों की स्थिति अच्छी थी।

आठवीं शताब्दी के तीन दशकों से तेरहवीं शताब्दी के मध्य चोल साम्राज्य का अस्तित्व बना रहा। ''चोल सम्राट साम्राज्य विस्तार, प्रशासनिक संगठन तथा कलाकृतियों की समुचित उन्नति के लिए प्रसिद्ध थे।''[64] चोल सम्राटों के शासन में दक्षिण प्रदेश में काफी उन्नति हुई। ''चोल सम्राटों का युग (850–1200ई०) तमिल संस्कृति का स्वर्ण युग है। इसमें साहित्य का व्यापक सृजन हुआ और साहित्यकारों को संरक्षण भी मिला। शैव और वैष्णव साहित्य की प्रभूत रचना हुई। इसके साथ ही जैन और बौद्ध लेखक भी लेखन कार्य करते थे।''[65] नीलकंठ शास्त्री दक्षिण भारत में पांड्य पल्लव काल में हुई उन्नति के विषय में कहते हैं, ''पांड्य, पल्लव काल में धर्म, साहित्य और कला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उन्नति हुई x x x x पल्लव राजा महेंद्रवर्मन प्रथम, जिसे ठीक ही 'विचित्र चित्त' की उपाधि मिली थी, लेखक, वास्तु शिल्पी, संगीतज्ञ और चित्रकार था। उसके समय में जैन धर्म और बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव के विरूद्ध तीव्र प्रक्रिया प्रकट हुई, जो इससे प्रकट है कि शिव और विष्णु के पूजकों के बीच व्यापक रूप में भक्ति आंदोलन शुरू हुआ।''[66]

दक्षिण भारत की स्थिति राजनीतिक दृष्टिकोण से समृद्ध थी। राजाओं का व्यवहार अपनी प्रजा के प्रति अनुकूल था। विभिन्न राज्यों के राजाओं की आपसी प्रतिस्पर्धा एवं राज्य विस्तार की लालसा ही युद्ध का कारण थी। जिस कारण जनता में असंतोष व्याप्त था।

3.6.2 दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

किसी भी देश का विकास, उस देश के समाज पर निर्भर करता है। समाज में विविध प्रकार के लोग होते हैं जिनका रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज भिन्न होते हैं। उनकी संस्कृति सदा एक–सी नहीं रहती। चूँकि संस्कृति परिवर्तनशील है। इसलिए उसमें समय के साथ परिवर्तन होता रहता है। जब समाज की स्थिति का वर्णन किया जाता है तब मुख्यतः वहाँ की स्त्रियों की दशा, कृषक व्यवस्था, दलितों की स्थिति का विशेष रूप से उल्लेख होता है। दक्षिण भारत की तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ इस प्रकार है–

दक्षिण भारत में तत्कालीन स्त्रियों की स्थिति का वर्णन कौलेश्वर राय इस प्रकार करते हैं, ''स्त्रियाँ अनेक सामाजिक बंधनों में जकड़ी हुई थीं। पर्दा प्रथा का विशेष प्रचार नहीं था, किंतु इसका यह अर्थ नहीं स्त्रियाँ बिल्कुल स्वतंत्र थी। वे पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी, यद्यपि पुरुष बहुपत्नीवादी हो सकता था। स्त्रियाँ मनोरंजन का साधन मात्र ही समझी जाती थी। पति के निधन होने पर सती होना पुण्य कार्य समझा जाता था सामान्य घर की औरतें भी अपने पति की मृत्यु के बाद जल मरती थीं। कभी–कभी अनेच्छा से इस व्रत का पालन करती थीं और कभी–कभी समाज इसके लिए बाध्य करता था। बाल–विवाह का रिवाज नहीं था, किंतु बाल हत्या का रिवाज़ जोर पकड़ रहा था। उच्च घराने की स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं।''[67] समाज में उच्च वर्ग की स्त्रियों की परिस्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी। ''उच्चवर्ग की स्त्रियों को केवल संपत्ति का ही अधिकार नहीं था। वरन् वे प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर भी कार्यरत थी। सजातीय विवाह को लोग अधिक अच्छा मानते थे। अंतर्जातीय विवाहों के कारण अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह भी प्रचलित थे।''[68] समाज में पर्दा प्रथा नहीं थी, किंतु सती प्रथा का उल्लेख प्राप्त होता है।

नीलकंठ शास्त्री ''दक्षिण भारत का इतिहास' पुस्तक में कहते हैं, 'जब किसी स्त्री का पति मर जाता था तो वह हरी चीजें (सब्जी) आदि खाना और ठंडे पानी में नहाना बंद कर देती थी। विधवाओं का जीवन दुर्वह होता था। उन्हें अपने बाल कटवा लेने पड़ते थे और आभूषणों का त्याग करना पड़ता था। वे बहुत सादा भोजन किया करती थीं।''[69] नीलकंठ शास्त्री यह भी उल्लेख करते हैं कि कुछ स्त्रियाँ अपने पति के साथ स्वेच्छा से भी मर कर सती होना पसंद करती थीं।

विविध प्रकार के राजनीतिक एवं धार्मिक विवादों एवं युद्धों के कारण भी स्त्रियों की दशा दयनीय रही। ''जिस प्रकार शासक वर्ग संघर्षों में लीन रहता था, उसी प्रकार वैष्णव, शैव, शाक्तों के अखाड़े भारत के बौद्धों और जैनों के साथ संघर्षों में लीन रहते थे। फलतः इन सामंतों के संघर्ष में अधिकतर युवा वर्ग मारा गया। अतः स्त्रियों की संख्या अधिक हो गई थी। अतः भारत के नगर सदाचारहीन स्त्रियों से भर गए थे।''[70] समाज में सती प्रथा, देवदासी प्रथा, वेश्यावृत्ति प्रचलित होने के कारण स्त्रियों की स्थिति गिर गई और उनकी पराधीनता बढ़ गई।

दक्षिण भारत में धार्मिक वेश्यावृत्ति की उत्पत्ति का प्रचलित कारण बताते है। प्रियदर्शिनी विजयश्री कहती हैं ''स्त्री–यौनता शक्ति सम्पन्न मानी जाती रही है। संगम साहित्य में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते है जिनमें स्त्री–शरीर में दैवी शक्ति के निवास की बातें की गई हैं। इसकी रचना ईसा की आरम्भिक सदियों के दौरान हुई। उस दौर के सभी साहित्य स्त्री–स्तन के दैवी सत्ता के निवास स्थल होने के जिक्र से भरे पड़े है।''[71] दक्षिण भारत धार्मिक वेश्यावृत्ति का गढ़ माना जाता रहा है। ''पेशेवर नर्तकियाँ और धार्मिक वेश्याएँ दोनों ही उदार दानी थीं और जनकल्याण का कार्य किया करती थीं। घरेलू दायरे की स्त्री के बरअक्स वे कला और साहित्य में दक्ष और इसलिए सत्ताशालियों और बड़े लोगों को प्रभावित करने की क्षमता रखती थीं।''[72]

दक्षिण भारत में उच्च वर्ग की स्त्रियों की स्थिति, मध्यम एवं निम्न वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा अच्छी थी। उन्हें शिक्षा के अवसर प्राप्त होते थे। किंतु सती प्रथा एवं राजनीतिक संघर्षों के कारण उनके जीवन में भी असंतोष व्याप्त था। मंदिर एवं मठों के स्त्रियों की दुर्दशा का वर्णन मिलता है। धार्मिक वेश्यावृत्ति का ही अन्य नाम देवदासी के रूप में प्रचलित होने लगा। तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति दयनीय ही थी।

दक्षिण प्रदेश में जनसंख्या का बड़ा भाग कृषि पर निर्भर था। नीलकंठ शास्त्री कृषकों की दासता की स्थिति का वर्णन इस प्रकार करते हैं ''छोटे किसान भी अपनी बचत के समय में दूसरे के यहाँ मजदूरी करने के लिए तैयार रहता था। रैयतवारी खेती भी पूर्ण रूप से

प्रचलित थी–खासकर मंदिरों तथा अन्य निगम संस्थाओं की जमीन पर और रैयतवारी की शर्तें मूल धर्मस्व में ही निश्चित रहती थी अथवा प्रत्येक मामले में वार्ता द्वारा तय होती थी। ऐसे रैयतों को इस प्रकार के अधिकार मिले होते थे कि जिस जमीन को वे जोतते थे, बहुत कुछ उसके वे आंशिक स्वामी से बन जाते थे।''[73] कृषकों की स्थिति मौसम पर निर्भर करती थी। भूमि पर दबाव बढ़ने के कारण कृषकों की स्थिति दयनीय होती गई। ''प्राक् सामंतीकाल के समान इनके लिए सिंचाई की व्यवस्था नहीं की गई। बाढ़ एवं सूखे की स्थिति में इन्हें मदद पहुँचाने की रूचि और आर्थिक क्षमता राजा के पास नहीं थी। युद्ध में व्यस्त रहने के कारण राजा को कृषकों की समस्याओं पर ध्यान देने की फुर्सत भी नहीं थी।''[74] राजतंत्र की ओर से भी किसान निराश ही मालूम पड़ते थे। ''सामंती प्रवृत्ति के कारण कृषकों पर अतिरिक्त करों का बोझ भी बढ़ता जा रहा था।''[75] ''कर की समस्या से कृषक वर्ग निरंतर जूझता रहता था। अतिरिक्त उपज से कृषकों को कुछ लाभ न होता, क्योंकि इससे जमींदार अधिक भाग की मांग करते।''[76] रामशरण शर्मा अपनी पुस्तक 'पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति' में लिखते हैं, ''चोलों तथा पांड्यों और दक्षिण भारत के अन्य राजवंशों के दानपात्रों में वेत्ति शब्द का उल्लेख बार–बार हुआ है। आंध्रप्रदेश एवं दक्षिण भारत के कतिपय अन्य हिस्सों में वेत्ति शब्द का अर्थ खेती–बारी के काम में इस्तेमाल किया जाने वाला बंधुआ मजदूर है।''[77] यह मजदूर सिर्फ नाममात्र की मजदूरी पर खेती बारी का काम किया करते थे। इसमें से कुछ बिल्कुल दासता की स्थिति में रहते थे। ''दैनिक मजदूरों को साधारणतः गल्ले के रूप में मजदूरी मिलती थी।''[78] नाममात्र की मजदूरी में जीविका चलाना खेतीहर मजदूरों एवं कृषकों दोनों के लिए ही दुर्लभ था। करों के बोझ एवं सामंती व्यवस्था के कारण कृषकों में असंतोष की भावना व्याप्त थी।

इस काल के अंतर्गत भारतीयों के सामाजिक जीवन में शिथिलता आ गई थी। ''तमिल प्रदेश में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन आर्यों के दक्षिणी प्रदेश में प्रवेश के बाद निश्चित ही ब्राह्मण वर्ग को समाज में, धार्मिक कर्मकांड़ों में प्रधानता मिली लेकिन चूंकि चार्तुवर्ण्य की प्रतिष्ठापना उतनी कड़ाई से आर्येत्तर अन्य समुदायों में नहीं हो पाई थी।''[79] सामाजिक संबंधों में वर्ण चेतना के विषय में रोमिला थापर कहती हैं, ''समाज में वर्णों की

व्यवस्था में मुख्य बल ब्राह्मणों और अ–ब्राह्मणों के विभाजन पर दिया गया था..... शूद्रों का विभाजन शुद्ध शूद्र– जिनके स्पर्श से मनुष्य अपवित्र नहीं होता था एवं मलिन शूद्र– जिन्हें मंदिर में प्रवेश की अनुमति नहीं थी, के रूप में किया गया था।''[80] इस काल में नवनिर्मित शूद्र व अतिशूद्र, भारतीय समाज के बहुसंख्यक जन अत्यधिक गरीब बना दिए गए।

वर्ण व्यवस्था तमिल प्रदेश में स्वीकार कर ली गई थी। शासक वर्ग भी वर्ण व्यवस्था को कायम रखना अपना प्राथमिक कर्तव्य समझते थे। नीलकंठ शास्त्री इसके कारण स्पष्ट करते हैं, ''भोजन तथा विवाह के मामले में प्रचलित अत्यधिक सामाजिक अलगाव, किंतु साथ ही मंदिर तथा इससे संबंध संस्थाओं के प्रबंध, गाँव की भूमि तथा सिंचाई अधिकारों के विनिमय और सामान्यतः स्थानीय मामलों के प्रशासन के लिए उनके एक साथ मिलने एवं एक दूसरे के साथ सहयोग करने का यही कारण था।''[81] वर्ण व्यवस्था का विरोध तत्कालीन व्यवस्था में नहीं मिलता है। अपितु इसे कायम रखने की भावना सभी वर्गों में मिलती है।

प्रशांत गौरव स्पष्ट करते हैं, ''शूद्रों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। निस्संदेह उन्हें वेदाध्ययन की मनाही थी, किंतु स्मार्त अनुष्ठानों की इजाजत थी। सेना में वे भर्ती किए जाते थे। अनेक शूद्र सेना में नायक होते थे। कुछ तो छोटे–मोटे राजा भी होते थे।''[82] ब्राह्मर्ण वर्ग के प्रति लोगों की श्रद्धा थी। ब्राह्मणों को समाज में आदर एवं सम्मान प्राप्त था एवं शूद्रों के निवास के लिए ग्राम से बाहर व्यवस्था थी।

3.6.3 दक्षिण भारत की आर्थिक स्थिति

दक्षिण प्रदेश में जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग गांवो में रहता था। उनका मुख्य पेशा कृषि था। ''कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी एक मुख्य व्यवसाय था। प्रत्येक गाँव में चारगाह के लिए भूमि अलग छोड़ दी जाती थी।''[83] गाँव में कृषि की स्थिति अच्छी थी। जिस कारण कृषकों को जीवनयापन करने में अत्यधिक कठिनाई नहीं हो रही थी। कृषकों एवं खेतीहर मजदूरों को विविध समस्याएँ थी, किंतु वे आत्मनिर्भरता की स्थिति को प्राप्त थे।

''नागरिक जीवन का अनेक कारणों से इस काल में पर्याप्त विकास हुआ। उद्योग धंधों, व्यापार, कृषि से प्राप्त अधिक अधिशेष के कारण नगरीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिला। परिणामतः दक्षिण बंदरगाह बड़े समृद्ध नगर होते गए।''[84] व्यापार की दृष्टि से तमिल प्रदेश की स्थिति समृद्ध थी ''सिक्कों का प्रचलन था। सिक्के, सोने, चाँदी अथवा ताँबे के बने होते थे। अंतर्देशीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बड़े पैमाने पर होते थे। दक्षिण में कोरकाई, कावेरी पाड्डिनम्म आदि प्रसिद्ध बंदरगाह थे।''[85] व्यापार के कारण आर्थिक स्थिति अच्छी मानी जा सकती है। किंतु प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर कहती हैं ''सीमित उत्पादन और व्यापार के अभाव के फलस्वरूप सिक्कों के प्रयोग में कमी आई तथा अनेक प्रकार के स्थानीय बाटों और मापों के प्रचलन से व्यापार में और भी बाधा पड़ी। इन कारणों से दूर के क्षेत्रों में व्यापार करना कठिन हो गया। सामंतों और राजाओं का अतिरिक्त धन वस्तु उत्पादन अथवा व्यवसाय में नहीं लगता था– वह सारा का सारा फिजूल की चीजों पर खर्च कर दिया जाता था।''[86] व्यापारिक समृद्धि के कारण आर्थिक स्थिति उच्च हो सकती थी किंतु अकुशल शासन के कारण बाधाएँ आती रही।

दक्षिण भारत के आर्थिक जीवन में मंदिरों की एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। अनेक मंदिरों को व्यापारिक श्रेणियों ने दान दिया। ''कई मंदिरों ने अपने अधीन की भूमि में कृषि करने का अधिकार व्यापारिक समूह को दे दिया और बदले में तेल एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने लगे। ये व्यापारिक समूह मजदूरों से काम करवाते थे और अपने व्यापार की दृष्टि से खेतों में पैदावार करते थे। मंदिर को जितनी वस्तुएँ देने की शर्त पर वे खेत लेते उतनी वस्तुएँ वे अलग से मंदिरों को दे देते।''[87] मंदिरों की आर्थिक संवृद्धि होती गई ''तिरूपति, तंजवुर, चिदंबरम् आदि मंदिरों को इस प्रकार अभूतपूर्व सम्पदा प्राप्त होती गई। इससे मंदिरों के कर्मचारियों में भी वृद्धि हुई।''[88] ''मध्यकाल में हिंदू मंदिरों का निर्माण अधिक हुआ, क्योंकि मंदिर में पुजारी बनना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक था।''[89] विकसित नवीन आर्थिक व्यवस्था ने सामंतों को धनी बना दिया। इसलिए अनेक विशालतम मंदिरों का निर्माण हुआ तथा देवदासियों की संख्या में वृद्धि हुई।

3.6.4 दक्षिण भारत की धार्मिक स्थिति

तत्कालीन दक्षिण प्रदेश में जैन, बौद्ध, शैव एवं वैष्णव धर्म मुख्यतः रूप से विद्यमान थे। सभी धर्मों के अपने दर्शन एवं मान्यताएँ थी। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार ''प्रायः पाँचवी शताब्दी तक विभिन्न धार्मिक पंथों के आपसी संबंधों में सामंजस्य और सहिष्णुता का भाव रहा। एक ओर विस्तृत रूप से वैदिक यज्ञ होते थे तो उनके साथ–साथ रक्त और ताड़ी से प्राचीन छोटे–छोटे देवताओं की पूजा होती थी; लोकप्रिय देवताओं में मुरुगन, शिव, विष्णु, इन्द्र, कृष्ण और अन्य देवतागण शामिल थे।''[90] आर्य–अनार्य संस्कृतियों के परस्पर समन्वय से वे एक–दूसरे के देवी–देवताओं के प्रति श्रद्धा भाव से उपासना करने लगे।

दक्षिण प्रदेश में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया। पूरा प्रदेश बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव में आ गया ''बौद्ध धर्म तथा तत्समान शास्त्र विरोधी धार्मिक सम्प्रदायों के प्रचार एवं पशुबलि की प्रथा के विरूद्ध गहरा प्रभाव पड़ा और इससे पुरोहित वर्ग के प्रभुत्व एवं प्रतिष्ठा को तथा वर्णव्यवस्था के नियमों को गहरा धक्का लगा।''[91] बौद्ध–जैन धर्म ने मूर्तिपूजा, धार्मिक आडम्बरों, जात–पात आदि का घोर विरोध किया। ब्राह्मण व पुरोहित वर्ग को इस धर्म से खतरा पैदा हुआ तब ब्राह्मण वर्ग ने परिस्थितियों को स्वंय के अनुकूल बनाने के लिए विविध साधन अपनाए। इस युग में बौद्ध एवं जैन धर्म का प्रचारात्मक वेग निरंतर बढ़ता जा रहा था। फलस्वरूप इन धर्मों का शैव एवं वैष्णव धर्मों द्वारा प्रत्यक्ष विरोध किया। ''इस युग में विभिन्न पंथों के समर्थक सार्वजनिक विवाद के लिए चुनौती दिया करते थे, जादूगरी के कारनामों में प्रतिद्वन्द्विता होती थी और अग्निपरीक्षा आदि के जरिए सिद्धांतों की जाँच होती थी। किसी प्रतिभाशाली संत या किसी और व्यक्ति के नेतृत्व में भक्तों के दल तमाम रास्ते नाचते, गाते एवं धार्मिक विवाद करते हुए देश का बार–बार भ्रमण करते थे।''[92] अहिंसा के पक्षधर इन सभी मतों एवं सम्प्रदायों ने जानवरों की हत्या न करने एवं शाकाहार पर तो जोर दिया किंतु राजाओं को युद्ध न करने की सलाह नहीं दी जबकि शासक वर्ग किसी न किसी मत का अनुयायी हुआ करता था।

ब्राह्मण वर्ग एवं सामंती वर्ग ने भी तरह–तरह के षडयंत्र रचे। ब्राह्मणों की तार्किकता के विषय में सुवीरा जायसवाल कहती हैं, ''वैदिक उपासना बहुत अधिक कठोर एवं अनम्य हो चुकी थी, तथा वैदिक यज्ञों को बड़े पैमाने पर पुनः प्रचलित करना नितांत व्यय साध्य था; इसलिए ब्राह्मणों ने वासुदेव कृष्ण संकर्षण की भक्तिमूलक उपासनाओं को अपनाकर इन देवताओं को शास्त्रसम्मत नारायण विष्णों के अवतारों के रूप में स्वीकार कर लिया। ताकि वे लोकप्रिय उपासनाओं में ब्राह्मणधर्मी सामाजिक आचार नीति भर सके और अपना प्रभुत्त्व पुनः स्थापित कर सके। इस शास्त्रसम्मत आर्य देवता नारायण विष्णु के साथ लोकप्रिय अनार्यमूलक देवता की अभिन्नता अनिच्छापूर्वक ही स्वीकार की गई थी।''[93] ब्राह्मण वर्ग द्वारा धार्मिक मान्यताओं एवं कठोर धार्मिक विधान, यज्ञों आदि को सरल बनाया गया तथा नीच जातियों के प्रति भी व्यवहार नम्र करने का उल्लेख मिलता है तथा यह सब जैन एवं बौद्ध मत के विरूद्ध ही किया गया था।

वैष्णव एवं शैव धर्म का एक और स्वरूप देखने को मिलता है जिससे पता चलता है कि विदेशी आक्रमणकारियों के साथ मिलकर इन्होंने बौद्ध–जैन धर्म की क्या दशा की। एच. लाल अपनी पुस्तक 'भारत के आदिनिवासियों का इतिहास' में बताते हैं, ''मध्यकाल में विदेशी मूल के शक व हूण शासकों ने अपने अधिकृत क्षेत्रों में वैष्णव और शैव मत आरंभ कर अखाड़े रूपी संगठन स्थापित कर वहाँ के बौद्धों और जैनों के आखेट का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। इस काल में बौद्ध विहारों के साथ बड़ी–बड़ी जागीरें थीं और उनमें काफी सम्पत्ति थी। उसे लूटने का इन्हें मौका हाथ लग गया था। अतः इन शासकों ने वैष्णव और शैव अखाड़ों का नेतृत्त्व कर हजारों बौद्धों व जैनों का कत्लेआम किया, बौद्ध विहारों की सम्पत्ति लूट ली, उनकी जागीरों पर अधिकार स्थापित कर लिया तथा उनमें रखी बौद्ध मूर्तियों और बौद्ध साहित्यों को नष्ट कर, उनकी चोटी लंबी कर मंदिरों का रूप देकर उनमें हिंदू देवी–देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की।''[94]

3.6.5 कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

दक्षिण प्रदेश में राजनीतिक संघर्ष सांस्कृतिक विकास में कभी बाधक नहीं बने। चोल सम्राटों का युग तमिल संस्कृति का स्वर्ण युग है। ''इसमें साहित्य का व्यापक सृजन हुआ और साहित्यकारों को संरक्षण भी मिला।''[95] एक व्यापक तथा बहुमुखी धार्मिक पुनरूत्थान आंदोलन ने न सिर्फ जैन एवं बौद्ध के प्रसार को रोक दिया, बल्कि काफी परिणाम में आत्मा को उद्वेलित करने वाले भक्ति साहित्य का सृजन किया। ''इस धार्मिक जागरण की प्रेरणा पाकर वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला एवं संगीत के क्षेत्र में विलक्षण प्रगति हुई।''[96] शैव और वैष्णव साहित्य की प्रभूत रचना हुई। इसके साथ ही जैन और बौद्ध लेखक भी लेखन कार्य करते थे।

दक्षिण भारत में सबसे विकसित साहित्य तमिल साहित्य को माना गया है। ''तमिल में सर्वप्रथम कृतियाँ ईस्वी संवत् की पहली सदियों में ही रची जा चुकी थी, किंतु विद्वान् तिरुवल्लुवर द्वारा रचित कुरल और शिल्पद्दीकारम् तथा मणिमेखलै जैसे महाकाव्यों को दूसरी से छठी सदियों के बीच की मानते हैं।''[97]

दक्षिण प्रदेश में स्थापत्य, चित्र, संगीत एवं नृत्य कलाओं का अत्यधिक विकास हुआ। ''दक्षिण भारत और विशेषकर तमिल क्षेत्र की विश्व में ख्याति का बहुत बड़ा आधार उसकी अपूर्व कांस्य देवी–मूर्तियाँ, भव्य विराट् गोपुरम् युक्त मंदिर, कर्नाटक संगीत में योगदान एवं भरतनाट्यम जैसा शास्त्रीय नृत्य है।''[98] मंदिर निर्माण की महेन्द्र शैली, मामल्ल शैली, राजसिंह शैली एवं नंदिवर्मन शैली इन चार शैलियों के माध्यम से वास्तुशैली का अद्वितीय विकास हुआ।

निष्कर्षतः वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए कह सकते है। आल्वारों का उद्‌गम तत्कालीन जनता के हृदय में रस का संचार कर सका। जनता में एक घोर निराशावाद छा गया था। आल्वार संतों ने जनता को उस निराशावादी धारणा से बाहर निकाला। आल्वार संत भारतीय संस्कृति के उद्‌घोषक थे। जीवन से संपृक्त रहते हुए भी आल्वार संत भगवान विष्णु तथा उनके कृष्णावतार की भक्ति का संदेश देते हुए भी जीवन से

विरक्त रहने का उपदेश कभी नहीं देते थे। आल्वार द्वारा रचित भक्ति साहित्य 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' में संगृहीत हैं। पांचवी शताब्दी से नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक विद्यमान ये बारह भक्त जिस भक्ति–काव्य का सृजन करते रहे, उससे सम्पूर्ण भारत में व्याप्त होने वाली वैष्णव भक्ति को एक ठोस आधार प्राप्त हुआ। दक्षिण भारत से बहती हुई यह पवित्र भक्ति की धारा उत्तर भारत में व्याप्त हुई; नवीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक कारणों से इसमें युगानुकूल परिवर्तन भी हुआ पर मूल स्वर अपरिवर्तित रहा।

संदर्भ सूची–

1. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–14.
2. डॉ. राजम नटराजन पिल्लै; तमिल तथा हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य, शुंभकर प्रकाशन, मुम्बई, सं. 2011, पृ.–1,2.
3. डॉ. ना. सुंदरम्; मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 1971, पृ.–25.
4. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–111.
5. डॉ. ना. सुंदरम्; मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 1971, पृ.–27.
6. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, तीसरा सं. 2005, पृ.–212.
7. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–54.
8. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, इरंडाम तिरूवंतादि (पद 77), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–225.
9. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मून्राम् तिरूवंतादि (पद 51) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–308.
10. डॉ. पी. जयरामन, भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–113.
11. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–321.
12. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–40.
13. वही, पृ.–52.
14. वही, पृ.–73.
15. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, कण्णिनुण चिरुतांबु (पद 3) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–230.

16. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ. –308.
17. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–370.
18. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–116.
19. संकलनकर्ता पा. वेंकटाचार्य; तिरुप्पावै, आण्डाल–गोदा देवी, श्री सेवा भारती, मारुति लेसर प्रिंटर्स, मद्रास, सं. 1995, पृ.–46.
20. डॉ. अमर सिंह वधान; तमिल साहित्य और संस्कृति, अभिषेक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2006, पृ.–74.
21. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–145.
22. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–117.
23. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–154.
24. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–132.
25. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–166.
26. डॉ. रविंद्र कुमार सेठ; तमिल वैष्णव कवि आल्वार, सं. 1986, साहित्य शोध संस्थान, नई दिल्ली–110005, पृ.–26.
27. डॉ. मलिक मोहम्मद; आल्वार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिंदी कृष्ण काव्य, सं. 1969, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा–2, पृ.–465.
28. डॉ. मलिक मोहम्मद; वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, सं. 1971, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.–106.
29. डॉ. ना. सुंदरम्; मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन, सं. 1971, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद, पृ.–21.
30. डॉ. सेवा सिंह; भक्ति और जन, सं. 2005, गुरूनानक देव युनिवर्सिटी, अमृतसर–143005, पृ.–134–135.
31. डॉ सेवा सिंह; भक्ति और जन, सं. 2005, गुरूनानक देव युनिवर्सिटी, अमृतसर–143005, पृ.–135.
32. रामस्वरूप चतुर्वेदी; हिंदी काव्य का इतिहास, सं. 2007, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–30.

33. डॉ. मलिक मोहम्मद; वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, सं. 1971, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.–293.
34. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, दूसरा सं. 1996, तीसरा सं. 2005, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी 7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ.–122.
35. वही, पृ.–125.
36. सं. एन. सुंदरम्, दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–17.
37. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मुद्ल तिरूवंतादि (पद 7) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–29.
38. डॉ. पी जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मुद्ल तिरूवंतादि (पद 15) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–38.
39. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, इरण्डाम तिरूवंतादि (पद 24) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–161.
40. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मून्राम् तिरूवंतादि (पद 38) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–245.
41. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–2, नान्मुखन् तिरूवंतादि (पद 2) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–21.
42. विष्णु प्रकाश तिवारी; भारतीय चिंतन धारा, भावना प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1994, पृ.–166.
43. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–216.
44. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मून्राम् तिरूवंतादि (पद 70) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–327.
45. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, इरण्डाम तिरूवंतादि (पद 16) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–152.
46. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, पेरुमाल तिरुमोलि (पद 2) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–286.
47. स्पा. एन. सुंदरम्, दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–145.

48. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–2, नान्मुखन् तिरूवंतादि (पद 37) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–56.
49. डॉ. पी जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, तिरुविरूत्तम् (पद 1) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–23.
50. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–220.
51. संपा. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–47.
52. वही, पृ.–70.
53. वही, पृ.–27.
54. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ. –152.
55. डॉ. पी जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–110.
56. पं. रघुवीर सिंह शर्मा; वैष्णव धर्म एवं दर्शन, आभा प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1997, पृ.–42.
57. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परंपरा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पृ.–247.
58. संकलनकर्ता पा. वेंकटाचार्य; तिरुप्पावै, आण्डाल–गोदा देवी, श्री सेवा भारती, मारुति लेसर प्रिंटर्स, मद्रास, सं. 1995, पृ.–10.
59. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, सं. 2012, पृ.–153.
60. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–505.
61. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1) 750–1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.–71.
62. कौलेश्वर राय, प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–507.
63. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 550–1200 ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं. 2009, पृ.–284.
64. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1) 750–1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.–73.
65. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–483.

66. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—4.
67. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.—509.
68. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग—1) 750—1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.—76.
69. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—114.
70. एच. लाल; भारत के आदिनिवासियों का इतिहास, खण्ड़—1, त्रिवेनी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 2003, पृ.—114.
71. प्रियदर्शिनी विजयश्री; देवदासी या धार्मिक वेश्या?, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2010, पृ. —28.
72. वही, पृ.—118.
73. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—284.
74. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.—509.
75. सं. हरिश्चंद्र वर्मा, मध्यकालीन भारत (भाग—1) 750—1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.—76.
76. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, सं. 2012, पृ.—221.
77. रामशरण वर्मा; पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1996, चौथी आवृति 2013, पृ.—27.
78. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—284.
79. डॉ. राजम नटराजन पिल्लै; तमिल तथा हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य, शुंभकर प्रकाशन, मुम्बई, सं. 2011, पृ.—20.
80. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, सं. 2012, पृ.—192.
81. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—276.

82. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 550–1200 ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं. 2009, पृ.–308.
83. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–477.
84. संपा. हरिश्चंद्र वर्मा, मध्यकालीन भारत (भाग–1) 750–1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.–76.
85. कौलेश्वर राय, प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–512
86. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, सं. 2012, पृ.–221.
87. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 550–1200 ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं. 2009, पृ.–308.
88. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1) 750–1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.–78.
89. एच. लाल; भारत के आदिनिवासियों का इतिहास, खण्ड़–1, त्रिवेनी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 2003, पृ.–214.
90. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–366.
91. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, तीसरा सं. 2005, पृ.–66.
92. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–367.
93. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, तीसरा सं. 2005, पृ.–66.
94. एच. लाल; भारत के आदिनिवासियों का इतिहास, खण्ड़–1, त्रिवेनी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 2003, पृ.–203.
95. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–483.
96. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–124
97. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–141
98. .डॉ. राजम नटराजन पिल्लै; तमिल तथा हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य, शुंभकर प्रकाशन, मुम्बई, सं. 2011, पृ.–22.